विष्णु खरे 15

जन्म : सन् 1940, छिंदवाड़ा (मध्य प्रदेश)

प्रमुख रचनाएँ : एक गैर रूमानी समय में, खुद अपनी आँख से, सबकी आवाज़ के पर्दे में, पिछला बाकी (कविता-संग्रह); आलोचना की पहली किताब (आलोचना); सिनेमा पढ़ने के तरीके (सिने आलोचना); मरु प्रदेश और अन्य कविताएँ (टी. एस. इलियट), यह चाकू समय (ऑतिंला योझेफ), कालेवाला (फिनलैंड का राष्ट्रकाव्य)(अनुवाद)

प्रमुख पुरस्कार : रघुवीर सहाय सम्मान, हिंदी अकादमी (दिल्ली) का सम्मान, शिखर सम्मान, मैथिलीशरण गुप्त सम्मान, फिनलैंड का राष्ट्रीय सम्मान नाइट ऑफ़ दि ऑर्डर ऑफ़ दि व्हाइट रोज़

हर कलाकृति जितनी वह पढ़ी जाती है, सुनाई या दिखाई देती है
उससे कहीं ज़्यादा होती है और फ़िल्म को लेकर शायद यह कुछ अधिक सत्य है।

समकालीन हिंदी कविता और आलोचना में विष्णु खरे एक विशिष्ट हस्ताक्षर हैं। उन्होंने हिंदी जगत को अत्यंत गहरी विचारपरक कविताएँ दी हैं, तो साथ ही बेबाक आलोचनात्मक लेख भी दिए हैं। विश्व साहित्य का गहन अध्ययन उनके रचनात्मक और आलोचनात्मक लेखन में पूरी रंगत के साथ दिखलाई पड़ता है। विश्व सिनेमा के भी वे गहरे जानकार हैं और पिछले कई वर्षों से लगातार सिनेमा की विधा पर गंभीर लेखन करते रहे हैं। 1971-73 के अपने विदेश-प्रवास के दरम्यान उन्होंने तत्कालीन चेकोस्लोवाकिया की राजधानी **प्राग** के प्रतिष्ठित फ़िल्म क्लब की सदस्यता प्राप्त कर संसार-भर की सैकड़ों उत्कृष्ट फ़िल्में देखीं। यहाँ से सिनेमा-लेखन को वैचारिक गरिमा और गंभीरता देने का उनका सफ़र शुरू हुआ। 'दिनमान', 'नवभारत टाइम्स', 'दि पायोनियर', 'दि हिंदुस्तान', 'जनसत्ता', 'दैनिक भास्कर', 'हंस', 'कथादेश', जैसी पत्र-पत्रिकाओं में उनका सिनेमा विषयक लेखन प्रकाशित होता रहा है। वे उन विशेषज्ञों में से हैं जिन्होंने फ़िल्म को समाज, समय और विचारधारा के आलोक

में देखा तथा इतिहास, संगीत, अभिनय, निर्देशन की बारीकियों के सिलसिले में उसका विश्लेषण किया। अपने लेखन के द्वारा उन्होंने हिंदी के उस अभाव को थोड़ा भरने में सफलता पाई है, जिसके बारे में अपनी एक किताब की भूमिका में वे लिखते हैं– "यह ठीक है कि अब भारत में भी सिनेमा के महत्त्व और शास्त्रीयता को पहचान लिया गया है और उसके सिद्धांतकार भी उभर आए हैं लेकिन दुर्भाग्यवश जितना गंभीर काम हमारे सिनेमा पर यूरोप और अमेरिका में हो रहा है शायद उसका शतांश भी हमारे यहाँ नहीं है। हिंदी में सिनेमा के सिद्धांतों पर शायद ही कोई अच्छी मूल पुस्तक हो। हमारा लगभग पूरा समाज अभी भी सिनेमा जाने या देखने को एक हलके अपराध की तरह देखता है।"

विश्व-सिनेमा विश्व-साहित्य के समानांतर फल-फूल रहा है। दो महायुद्धों के बाद की दहशत, नव-स्वतंत्र देशों का नैतिक भूगोल, औपनिवेशिक दासता का मानसिक अवक्षेपण: विश्व सिनेमा जिस कौशल से ये विषय लगातार बिंबित करता रहा है– उसके विकास में चार्ली चैप्लिन नामक महान अभिनेता का बड़ा योगदान है। इसीलिए 'चार्ली चैप्लिन यानी हम सब' नामक पाठ इस महान अभिनेता के भीतर के इनसान को जानने का अवसर देता है।

साधारण की अपार धारण क्षमता और उसके धुआँते नायकत्व को अपने ढंग से चार्ली चैप्लिन से जुड़े नाटक और फ़िल्में पकड़ते रहे हैं। अपने यहाँ राजकपूर की ***आवारा, श्री 420, अनाड़ी*** *और* ***मेरा नाम जोकर*** *आदि फ़िल्में भी जिस तरह के* ***भोले सड़कछाप*** *की त्रासद-कामद गाथा रचती हैं, वह भी चार्ली चैप्लिन का ही प्रभाव है।*

हास्य फ़िल्मों के महान अभिनेता और निर्देशक चार्ली चैप्लिन पर लिखे गए इस पाठ में लेखक ने चार्ली के कलाकर्म की कुछ मूलभूत विशेषताओं को रेखांकित किया है। करुणा और हास्य के तत्वों का सामंजस्य, उनकी दृष्टि में, चार्ली की सबसे बड़ी विशेषता रही है। इसे देखते हुए भारत जैसे मुल्क में, जहाँ सिद्धांत और रचना दोनों स्तरों पर हास्य और करुणा के मेल की कोई परंपरा नहीं रही है, चार्ली चैप्लिन की लोकप्रियता यह तय करती है कि कला स्वतंत्र होती है बँधती नहीं। एक-से-एक हास्य कलाकार हुए, पर वे चैप्लिन की तरह हर देश, हर उम्र और हर स्तर के दर्शकों की पसंद नहीं बन पाए। इसका कारण शायद यह है कि चार्ली ही वह शख्सियत हो सकता है जिनमें सबको अपनी छवि दिखती है वे किसी भी संस्कृति को विदेशी नहीं लगते हैं। यह पूरा पाठ चार्ली चैप्लिन के इसी जादू की व्याख्या का एक प्रयास है।

चार्ली चैप्लिन यानी हम सब

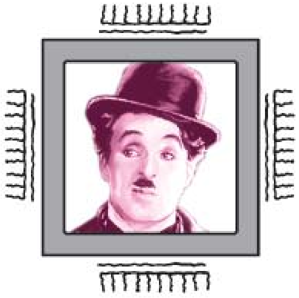

यदि यह वर्ष चैप्लिन की जन्मशती• का न होता तो भी चैप्लिन के जीवन का एक महत्त्वपूर्ण वर्ष होता क्योंकि आज उनकी पहली फ़िल्म 'मेकिंग ए लिविंग' के 75वर्ष पूरे होते हैं। पौन शताब्दी से चैप्लिन की कला दुनिया के सामने है और पाँच पीढ़ियों को मुग्ध कर चुकी है। समय, भूगोल और संस्कृतियों की सीमाओं से खिलवाड़ करता हुआ चार्ली आज भारत के लाखों बच्चों को हँसा रहा है जो उसे अपने बुढ़ापे तक याद रखेंगे। पश्चिम में तो बार-बार चार्ली का पुनर्जीवन होता ही है, विकासशील दुनिया में जैसे-जैसे टेलीविज़न और वीडियो का प्रसार हो रहा है, एक बहुत बड़ा दर्शक वर्ग नए सिरे से चार्ली को घड़ी 'सुधारते' या जूते 'खाने' की कोशिश करते हुए देख रहा है। चैप्लिन की ऐसी कुछ फ़िल्में या इस्तेमाल न की गई रीलें भी मिली हैं जिनके बारे में कोई जानता न था। अभी चैप्लिन पर करीब 50 वर्षों तक काफ़ी कुछ कहा जाएगा।

1936 में बनी **मॉडर्न टाइम्स** फ़िल्म का एक दृश्य

•16 अप्रैल 1989 को इनके जन्म के सौ साल पूरे हो गए।

उनकी फ़िल्में भावनाओं पर टिकी हुई हैं, बुद्धि पर नहीं। 'मेट्रोपोलिस', 'दी कैबिनेट ऑफ़ डॉक्टर कैलिगारी', 'द रोवंथ सील', 'लास्ट इयर इन मारिएनबाड', 'द सैक्रिफाइस' जैसी फ़िल्में दर्शक से एक उच्चतर अहसास की माँग करती हैं। चैप्लिन का चमत्कार यही है कि उनकी फ़िल्मों को पागलखाने के मरीज़ों, विकल मस्तिष्क लोगों से लेकर आइन्स्टाइन जैसे महान प्रतिभा वाले व्यक्ति तक कहीं एक स्तर पर और कहीं सूक्ष्मतम रसास्वादन के साथ देख सकते हैं। चैप्लिन ने न सिर्फ़ फ़िल्म कला को लोकतांत्रिक बनाया बल्कि दर्शकों की वर्ग तथा वर्ण-व्यवस्था को तोड़ा। यह अकारण नहीं है कि जो भी व्यक्ति, समूह या तंत्र गैर बराबरी नहीं मिटाना चाहता वह अन्य संस्थाओं के अलावा चैप्लिन की फ़िल्मों पर भी हमला करता है। चैप्लिन भीड़ का वह बच्चा है जो इशारे से बतला देता है कि राजा भी उतना ही नंगा है जितना मैं हूँ और भीड़ हँस देती है। कोई भी शासक या तंत्र जनता का अपने ऊपर हँसना पसंद नहीं करता। एक परित्यक्ता, दूसरे दर्जे की स्टेज अभिनेत्री का बेटा होना, बाद में भयावह गरीबी और माँ के पागलपन से संघर्ष करना, साम्राज्य, औद्योगिक क्रांति, पूँजीवाद तथा सामंतशाही से मगरूर एक समाज द्वारा दुरदुराया जाना–इन सबसे चैप्लिन को वे जीवन-मूल्य मिले जो करोड़पति हो जाने के बावजूद अंत तक उनमें रहे। अपनी नानी की तरफ़ से चैप्लिन खानाबदोशों से जुड़े हुए थे और यह एक सुदूर रूमानी संभावना बनी हुई है कि शायद उस खानाबदोश औरत में भारतीयता रही हो क्योंकि यूरोप के जिप्सी भारत से ही गए थे– और अपने पिता की तरफ़ से वे यहूदीवंशी थे। इन जटिल परिस्थितियों ने चार्ली को हमेशा एक 'बाहरी', 'घुमंतू' चरित्र बना दिया। वे कभी मध्यवर्गी, बुर्जुआ या उच्चवर्गी जीवन-मूल्य न अपना सके। यदि उन्होंने अपनी फ़िल्मों में अपनी प्रिय छवि 'ट्रैम्प' (बद्दू, खानाबदोश, आवारागर्द) की प्रस्तुत की है तो उसके कारण उनके अवचेतन तक पहुँचते हैं।

चार्ली पर कई फ़िल्म समीक्षकों ने नहीं, फ़िल्म कला के उस्तादों और मानविकी के विद्वानों ने सिर धुने हैं और उन्हें नेति-नेति कहते हुए भी यह मानना

पड़ता है कि चार्ली पर कुछ नया लिखना कठिन होता जा रहा हैं। दरअसल सिद्धांत कला को जन्म नहीं देते, कला स्वयं अपने सिद्धांत या तो लेकर आती है या बाद में उन्हें गढ़ना पड़ता है। जो करोड़ों लोग चार्ली को देखकर अपने पेट दुखा लेते हैं उन्हें मैल ओटिंगर या जेम्स एजी की बेहद सारगर्भित समीक्षाओं से क्या लेना-देना? वे चार्ली को समय और भूगोल से काट कर देखते हैं और जो देखते हैं उसकी ताकत अब तक ज्यों-की-त्यों बनी हुई है। यह कहना कि वे चार्ली में खुद को देखते हैं दूर की कौड़ी लाना है लेकिन बेशक जैसा चार्ली वे देखते हैं वह उन्हें जाना-पहचाना लगता है, जिस मुसीबत में वह अपने को हर दसवें सेकेंड में डाल देता है वह सुपरिचित लगती है। अपने को नहीं लेकिन वे अपने किसी परिचित या देखे हुए को चार्ली मानने लगते हैं। कला में बेहतर क्या है— बुद्धि को प्रेरित करने वाली भावना या भावना को उकसाने वाली बुद्धि? उसने भावना को चुना और उसके कारण थे। बचपन की दो घटनाओं ने चैप्लिन पर गहरा, स्थायी प्रभाव डाला था। एक बार जब वे बीमार थे तब उनकी माँ ने उन्हें ईसा मसीह का जीवन बाइबिल से पढ़कर सुनाया था। ईसा के सूली पर चढ़ने के प्रकरण तक आते-आते माँ और चार्ली दोनों रोने लगे। अपनी आत्मकथा में चैप्लिन लिखते हैं :

'ओकले स्ट्रीट के तहखाने के उस अँधियारे कमरे में माँ ने मेरे सामने संसार की वह सबसे दयालु ज्योति उजागर की जिसने साहित्य और नाट्य को उनके महानतम और समृद्धतम विषय दिए हैं : स्नेह, करुणा और मानवता।'

दूसरी घटना भी कम मार्मिक नहीं है। बालक चार्ली उन दिनों एक ऐसे घर में रहता था जहाँ से कसाईखाना दूर नहीं था। वह रोज सैकड़ों जानवरों को वहाँ ले जाया जाता देखता था। एक बार एक भेड़ किसी तरह जान छुड़ाकर भाग निकली। उसे पकड़ने वाले उसका पीछा करते हुए कई बार फिसले, गिरे और पूरी सड़क पर ठहाके लगने लगे। आखिरकार उस गरीब जानवर को पकड़ लिया गया और उसे फिर कसाई के पास ले जाने लगे। तब चार्ली को अहसास हुआ कि उस भेड़ के साथ क्या होगा। वह रोता हुआ माँ के पास दौड़ा, 'उसे मार डालेंगे, उसे मार डालेंगे।' बाद में चैप्लिन ने अपनी आत्मकथा में लिखा: 'वसंत की वह बेलौस दोपहर और वह मज़ाकिया दौड़ कई दिनों तक मेरे साथ रही; और मैं कई बार सोचता हूँ कि उस घटना ही ने तो कहीं मेरी भावी फ़िल्मों की भूमि तय नहीं कर दी थी— त्रासदी और हास्योत्पादक तत्वों के सामंजस्य की।'

भारतीय कला और सौंदर्यशास्त्र को कई रसों का पता है, उनमें से कुछ रसों का किसी कलाकृति में साथ-साथ पाया जाना श्रेयस्कर भी माना गया है, जीवन में हर्ष और विषाद आते रहते हैं यह संसार की सारी सांस्कृतिक परंपराओं को मालूम है, लेकिन करुणा का हास्य में बदल जाना एक ऐसे रस-सिद्धांत की माँग करता है जो भारतीय परंपराओं में नहीं मिलता। 'रामायण' तथा 'महाभारत' में जो हास्य है वह 'दूसरों' पर है और अधिकांशत:

वह परसंताप से प्रेरित है। जो करुणा है वह अकसर सद्व्यक्तियों के लिए और कभी-कभार दुष्टों के लिए है। संस्कृत नाटकों में जो विदूषक है वह राजव्यक्तियों से कुछ बदतमीजियाँ अवश्य करता है, किंतु करुणा और हास्य का सामंजस्य उसमें भी नहीं है। अपने ऊपर हँसने और दूसरों में भी वैसा ही माद्दा पैदा करने की शक्ति भारतीय विदूषक में कुछ कम ही नज़र आती है।

इसलिए भारत में चैप्लिन के इतने व्यापक स्वीकार का एक अलग सौंदर्यशास्त्रीय महत्त्व तो है ही, भारतीय जनमानस पर उसने जो प्रभाव डाला होगा उसका पर्याप्त मूल्यांकन शायद अभी होने को है। हास्य कब करुणा में बदल जाएगा और करुणा कब हास्य में परिवर्तित हो जाएगी इससे पारंपरिक या सैद्धांतिक रूप से अपरिचित भारतीय जनता ने उस 'फ़िनोमेनन' को यूँ स्वीकार किया जैसे बत्तख पानी को स्वीकारती है। किसी 'विदेशी' कला-सिद्धांत को इतने स्वाभाविक रूप से पचाने से अलग ही प्रश्न खड़े होते हैं और अंशत: एक तरह की कला की सार्वजनिकता को ही रेखांकित करते हैं।

किसी भी समाज में इने-गिने लोगों को 'अमिताभ बच्चन' या 'दिलीप कुमार' कहकर ताना दिया जाता है लेकिन किसी भी व्यक्ति को परिस्थितियों का औचित्य देखते हुए 'चार्ली' या 'जानी वॉकर' कह दिया जाता है। यह स्वयं एक स्वीकारोक्ति है कि हमारे बीच 'नायक' कम हैं जबकि हर व्यक्ति दूसरे को कभी-न-कभी विदूषक समझता है। दरअसल मनुष्य स्वयं ईश्वर या नियति का विदूषक, क्लाउन, जोकर या साइड-किक है। यह अकारण नहीं है कि महात्मा गांधी से चार्ली चैप्लिन का खासा पुट था और गांधी तथा नेहरू दोनों ने कभी चार्ली का सान्निध्य चाहा था।

चार्ली के नितांत अभारतीय सौंदर्यशास्त्र की इतनी व्यापक स्वीकृति देखकर राजकपूर ने भारतीय फ़िल्मों का एक सबसे साहसिक प्रयोग किया। 'आवारा' सिर्फ़ 'दि ट्रैम्प' का शब्दानुवाद ही नहीं था बल्कि चार्ली का

गांधी जी और चार्ली चैप्लिन डॉ. कटियाल के निवास स्थान पर कैनिंग टाउन में, 22 सितंबर 1931

भारतीयकरण ही था। वह अच्छा ही था कि राजकपूर ने चैप्लिन की नकल करने के आरोपों की परवाह नहीं की। राजकपूर के 'आवारा' और 'श्री 420' के पहले फ़िल्मी नायकों पर हँसने की और स्वयं नायकों के अपने पर हँसने की परंपरा नहीं थी। 1953-57 के बीच जब चैप्लिन अपनी गैर-ट्रैम्पनुमा अंतिम फ़िल्में बना रहे थे तब राजकपूर चैप्लिन का युवा अवतार ले रहे थे। फिर तो दिलीप कुमार (बाबुल, शबनम, कोहिनूर, लीडर, गोपी), देव आनंद (नौ दो ग्यारह, फ़ंटूश, तीन देवियाँ), शम्मी कपूर, अमिताभ बच्चन (अमर अकबर एंथनी) तथा श्रीदेवी तक किसी-ना-किसी रूप से चैप्लिन का कर्ज़ स्वीकार कर चुके हैं। बुढ़ापे में जब अर्जुन अपने दिवंगत मित्र कृष्ण की पत्नियों को डाकुओं से न बचा सके और हवा में तीर चलाते रहे तो यह दृश्य करुण और हास्योत्पादक दोनों था किंतु महाभारत में सिर्फ़ उसकी त्रासद व्याख्या स्वीकार की गई। आज फ़िल्मों में किसी नायक को झाड़ुओं से पिटता भी दिखाया जा सकता है लेकिन हर बार हमें चार्ली की ही ऐसी फ़जीहतें याद आती हैं।

चार्ली की अधिकांश फ़िल्में भाषा का इस्तेमाल नहीं करतीं इसलिए उन्हें ज़्यादा-से-ज़्यादा मानवीय होना पड़ा। सवाक् चित्रपट पर कई बड़े-बड़े कॉमेडियन हुए हैं, लेकिन वे चैप्लिन की सार्वभौमिकता तक क्यों नहीं पहुँच पाए इसकी पड़ताल अभी होने को है। चार्ली का चिर-युवा होना या बच्चों जैसा दिखना एक विशेषता तो है ही, सबसे बड़ी विशेषता शायद यह है कि वे किसी भी संस्कृति को विदेशी नहीं लगते। यानी उनके आसपास जो भी चीज़ें, अड़ंगे, खलनायक, दुष्ट औरतें आदि रहते हैं वे एक सतत 'विदेश' या 'परदेस' बन जाते हैं और चैप्लिन 'हम' बन जाते हैं। चार्ली के सारे संकटों में हमें यह भी लगता है कि यह 'मैं' भी हो सकता हूँ, लेकिन 'मैं' से ज़्यादा चार्ली हमें 'हम' लगते हैं। यह संभव है कि कुछ अर्थों में 'बस्टर कीटन' चार्ली चैप्लिन से बड़ी हास्य-प्रतिभा हो लेकिन कीटन हास्य का काफ्का है जबकि चैप्लिन प्रेमचंद के ज़्यादा नज़दीक हैं।

एक होली का त्योहार छोड़ दें तो भारतीय परंपरा में व्यक्ति के अपने पर हँसने, स्वयं को जानते-बूझते हास्यास्पद बना डालने की परंपरा नहीं के बराबर है। गाँवों और लोक-संस्कृति में तब भी वह शायद हो, नागर-सभ्यता में तो वह थी नहीं। चैप्लिन का भारत में महत्त्व यह है कि वह 'अंग्रेज़ों जैसे' व्यक्तियों पर हँसने का अवसर देते हैं। चार्ली स्वयं पर सबसे ज़्यादा तब हँसता है जब वह स्वयं को गर्वोन्मत्त, आत्म-विश्वास से लबरेज़, सफलता, सभ्यता, संस्कृति तथा समृद्धि की प्रतिमूर्ति, दूसरों से ज़्यादा शक्तिशाली तथा श्रेष्ठ, अपने 'वज्रादपि कठोराणि' अथवा 'मृदुनि कुसुमादपि' क्षण में दिखलाता है। तब यह समझिए कि कुछ ऐसा हुआ ही चाहता है कि यह सारी गरिमा सुई-चुभे गुब्बारे जैसी फुस्स हो उठेगी।

अपने जीवन के अधिकांश हिस्सों में हम चार्ली के टिली ही होते हैं जिसके रोमांस हमेशा पंक्चर होते रहते हैं। हमारे महानतम क्षणों में कोई भी हमें चिढ़ाकर या लात मारकर

भाग सकता है। अपने चरमतम शूरवीर क्षणों में हम क्लैब्य और पलायन के शिकार हो सकते हैं। कभी-कभार लाचार होते हुए जीत भी सकते हैं। मूलत: हम सब चार्ली हैं क्योंकि हम सुपरमैन नहीं हो सकते। सत्ता, शक्ति, बुद्धिमत्ता, प्रेम और पैसे के चरमोत्कर्षों में जब हम आईना देखते हैं तो चेहरा चार्ली-चार्ली हो जाता है।

अभ्यास

पाठ के साथ

1. लेखक ने ऐसा क्यों कहा है कि अभी चैप्लिन पर करीब 50 वर्षों तक काफ़ी कुछ कहा जाएगा?
2. *चैप्लिन ने न सिर्फ़ फ़िल्म-कला को लोकतांत्रिक बनाया बल्कि दर्शकों की वर्ग तथा वर्ण-व्यवस्था को तोड़ा* । इस पंक्ति में लोकतांत्रिक बनाने का और वर्ण-व्यवस्था तोड़ने का क्या अभिप्राय है? क्या आप इससे सहमत हैं?
4. लेखक ने चार्ली का भारतीयकरण किसे कहा और क्यों? गांधी और नेहरू ने भी उनका सान्निध्य क्यों चाहा?
5. लेखक ने कलाकृति और रस के संदर्भ में किसे श्रेयस्कर माना है और क्यों? क्या आप कुछ ऐसे उदाहरण दे सकते हैं जहाँ कई रस साथ-साथ आए हों?
6. जीवन की जद्दोजहद ने चार्ली के व्यक्तित्व को कैसे संपन्न बनाया?
7. चार्ली चैप्लिन की फ़िल्मों में निहित त्रासदी/करुणा/हास्य का सामंजस्य भारतीय कला और सौंदर्यशास्त्र की परिधि में क्यों नहीं आता?
8. चार्ली सबसे ज़्यादा स्वयं पर कब हँसता है?

पाठ के आसपास

1. आपके विचार से मूक और सवाक् फ़िल्मों में से किसमें ज़्यादा परिश्रम करने की आवश्यकता है और क्यों?
2. सामान्यत: व्यक्ति अपने ऊपर नहीं हँसते, दूसरों पर हँसते हैं। कक्षा में ऐसी घटनाओं का ज़िक्र कीजिए जब–

   (क) आप अपने ऊपर हँसे हों;

   (ख) हास्य करुणा में या करुणा हास्य में बदल गई हो।
3. ***चार्ली हमारी वास्तविकता है, जबकि सुपरमैन स्वप्न*** आप इन दोनों में खुद को कहाँ पाते हैं?

4. भारतीय सिनेमा और विज्ञापनों ने चार्ली की छवि का किन-किन रूपों में उपयोग किया हैं? कुछ फ़िल्में (जैसे आवारा, श्री 420, मेरा नाम जोकर, मिस्टर इंडिया और विज्ञापनों (जैसे चैरी ब्लॉसम) को गौर से देखिए और कक्षा में चर्चा कीजिए।

5. आजकल विवाह आदि उत्सव, समारोहों एवं रेस्तराँ में आज भी चार्ली चैप्लिन का रूप धरे किसी व्यक्ति से आप अवश्य टकराए होंगे। सोचकर बताइए कि बाज़ार ने चार्ली चैप्लिन का कैसा उपयोग किया है?

भाषा की बात

1. ***... तो चेहरा चार्ली-चार्ली हो जाता है।*** वाक्य में ***चार्ली*** शब्द की पुनरुक्ति से किस प्रकार की अर्थ-छटा प्रकट होती है? इसी प्रकार के पुनरुक्त शब्दों का प्रयोग करते हुए कोई तीन वाक्य बनाइए। यह भी बताइए कि संज्ञा किन स्थितियों में विशेषण के रूप में प्रयुक्त होने लगती है?
2. नीचे दिए वाक्यांशों में हुए भाषा के विशिष्ट प्रयोगों को पाठ के संदर्भ में स्पष्ट कीजिए।
   (क) सीमाओं से खिलवाड़ करना
   (ख) समाज से दुरदुराया जाना
   (ग) सुदूर रूमानी संभावना
   (घ) सारी गरिमा सुई-चुभे गुब्बारे जैसी फुस्स हो उठेगी।
   (ङ) जिसमें रोमांस हमेशा पंक्चर होते रहते हैं।

गौर करें

(क) दरअसल सिद्धांत कला को जन्म नहीं देते, कला स्वयं अपने सिद्धांत या तो लेकर आती है या बाद में उन्हें गढ़ना पड़ता है।

(ख) कला में बेहतर क्या है– बुद्धि को प्रेरित करने वाली भावना या भावना को उकसाने वाली बुद्धि?

(ग) दरअसल मनुष्य स्वयं ईश्वर या नियति का विदूषक, क्लाउन, जोकर या साइड किक है।

(घ) सत्ता, शक्ति, बुद्धिमता, प्रेम और पैसे के चरमोत्कर्ष में जब हम आईना देखते हैं तो चेहरा चार्ली-चार्ली हो जाता है।

(ङ) मॉडर्न टाइम्स ***द ग्रेट डिक्टेटर*** आदि फ़िल्में कक्षा में दिखाई जाएँ और फ़िल्मों में चार्ली की भूमिका पर चर्चा की जाए।

शब्द-छवि

फ़िनोमेनन - तथ्य

बज्रादपि कठोराणि - वज्र से भी कठोर

मृदूनि कुसुमादपि - फूल से भी कोमल